Available online at http://www.nrjp.co.in

Journal of Management Science, Operations & Strategies, (E- ISSN 2456-9305)
Vol. 5, Issue, 01. 90-101p, September, 2021

National Research & Journal Publication

Review Article

दलित साहित्य की अवधारणा एवं स्वरूप

शशिरंजन
स्नातकोत्तर, हिंदी विभाग,
ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

Abstract

दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ है जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, शोषित, उत्पीड़ित, सताया हुआ, अपेक्षित, घृणित, हतोत्साहित आदि। आधुनिक हिन्दी साहित्य में साहित्य में साहित्यकारों ने विमर्श का एक नवीन आकार निर्मित किया है जिसके अन्तर्गत दलित साहित्य को चिंतन का विस्तृत फलक प्रदान किया गया है। दलित विमर्श से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है, अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है. दलित विमर्श उनकी उसी अभिव्यक्ति का विमर्श है। यह कला के लिए कला नहीं बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का विमर्श है। दलित चेतना का पूरा चित्रण दलित साहित्य में समाहित है। इसका सम्बन्ध सांस्कृतिक संस्कारों एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से है। मूलतः भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था के आधार पर जो जातिगत बंटवारा हुआ है। यह पूर्णतः असमानता, वर्चस्व और शोषण पर आधारित है। दलित कोई एकरूपीय समाज नहीं है। इसकी अनेक परते है। दलित साहित्य के पीछे दलित चेतना की प्रमुख भूमिका है क्योंकि दलित चेतना से ही दलित स्वाभिमान जागता है। दलित अस्मिता की भावना बढ़ती है। इस साहित्य को सबसे पहले डॉ भीमराव अंबेडकर ने दलित साहित्य का नाम दिया था। इनकी अद्भुत सोच चेतना का ही परिणाम है कि दलित साहित्य एक प्रमुख धारा बन चुका है। आधुनिक शब्दों में साहित्य समाज का अल्ट्रासाउण्ड है। सामाजिक मुद्दों को उजागर करना साहित्य का ही काम है। दलित साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना हिन्दी साहित्य। दलित साहित्यकारों ने इसी छुआछुत को मिटाने के लिए समाज और अपनी स्थिति की उपस्थिति दर्ज करने के लिए साहित्य का सृजन करना प्रारम्भ किया।

मुख्य शब्द *:– वैश्विक, भाषा, साहित्य, हिंदी, आधुनिकता, भूमंडलीकरण, माध्यम*

Copyright©2021 शशिरंजन *This is an open access article for the issue release and distributed under the NRJP Journals License, which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.*

प्रस्तावना

हिंदू धर्म की वर्णाश्रम–व्यवस्था पुनर्जन्म और कर्मफल पर टिकी हुई है। इसके अनुसार पूर्व जन्म में किए गए कर्म के आधार पर ऊंची या नीची जातियों में जन्म होता है, अर्थात जाति स्वयं भगवान का करिश्मा है। दलितों के लिए निर्विकार भाव से सेवा करना आवश्यक बना दिया गया–यही उनकी मुक्ति का मार्ग माना जाता रहा है। जो अभी भी अवचेतन में गुलामी का पर्याय बना हुआ है। दलित साहित्य इस मानसिक गुलामी की सोच को बेनकाब करता है। भारतीय समाज–व्यवस्था की भेद भावपूर्ण क्रूर प्रणाली ने धार्मिक चोंगा पहनकर और मर्यादा का आवरण ओढ़कर ब्राह्मणवाद का रूप धारण किया, जिसने धार्मिक कर्मकांड, अंधविश्वास और जन्मना ऊंच–नीच की भावना को वैधता प्रदान किया। आज भी तमाम नियमों, कानूनों के बावजूद परम्परागत रूप में यह अमानवीय कुरीतियां भयानकता के साथ हमारे समाज में विद्यमान हैं। भुक्तभोगी समाज साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर इस अमानवीय एवं अवैज्ञानिक व्यवस्था के प्रतिरोध में खड़ा है, जिसका स्वरूप अखिल भारतीय दलित लेखन और आंदोलन में झलक रहा है।

भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण–व्यवस्था, जाति–पांति, अस्पृश्यता, शोषण, दमन और उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध की लंबी

ऐतिहासिक परंपरा रही है। गौतम बुद्ध (ईसा पूर्व 563–483) ने अन्याय और वर्चस्व के विरुद्ध हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को चुनौती दिया था जो पूरे बौद्धकाल में विद्यमान रहा। चार्वाक, लोकायत और आजीवक जैसे लोकवादी भौतिक दर्शन और अन्य श्रमण परंपराएं समय और काल परिवेश के अपने दबावों के फलस्वरूप तीव्रता और ठहराव से गुजरते हुए नया रूपाकार लेती रहीं हैं। यह लोकधर्मी परंपराएं प्रतिरोध की संस्कृति को सक्रिय बनाए रहीं। साहित्य में सिद्धों, नाथों और संतों की बानियों ने प्रतिरोध की संस्कृति को जीवित रखा जो विविध आयामों से गुजरते हुए वर्ण–व्यवस्था के बरक्स एक सशक्त आंदोलन और गम्भीर चिंतन की भावभूमि तैयार करती हैं। भले ही उसमें सामाजिक परिवर्तन का विकल्प न हो। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ज्योतिबा फुले और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डॉ0 अम्बेडकर द्वारा चलाया गया सुव्यवस्थित एवं सुचिंतित सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आंदोलन दलित विमर्श और साहित्य आंदोलन का वैचारिक आधार बना जिसने आज सामाजिक परिवर्तन का विकल्प प्रस्तुत किया है।

हिंदू समाज की अधिकतम मान्यताएं दलितों के विरोध में खड़ी दिखाई देती हैं। भारतीय समाज में ऐसी अनेक कहावतें, मुहावरे और लोकोक्तियां हैं जो दलितों के प्रति घृणा और अपमान का भाव पैदा करती हैं। अक्सर ही लोगों से बात करते समय यह सुनने को मिल जाएगा– क्या मुझे चोर–चमार समझ रखा है। एक कहावत है कि 'कोदो सावां अन्न नहीं, डोम चमार जन नहीं। दैनंदिन जीवन में ऐसे मुहावरों की भरमार है। लोक–संस्कृति पर इतराने वालों को इस संदर्भ में आत्मंथन करना चाहिए। लोक कलाओं के प्रति उपेक्षा और संकीर्ण मानसिकता को उजागर करते हुए डॉ. तुलसी राम लिखते हैं कि ''साहित्य कलाओं (लोक साहित्य तथा लोक कला) को इस वर्ण–व्यवस्था ग्रस्त समाज में कुछ जाति–विशेष से जोड़कर उनका उपहास करते हुए प्रायः उन्हें कला या साहित्य–क्षेत्र से दूर रखने का निरन्तर प्रयास किया जाता रहा है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के कुछ लोक नृत्यों को चमार से 'चमरउवा', कहार से 'कहरवा', धोबी से धोबियउवा' आदि कहकर न सिर्फ उन्हें उपेक्षित किया जाता है, बल्कि असंस्कृत भी समझा जाता है, जबकि ये सारी परम्पराएं भरतमुनि के नाट्शास्त्र का परम्परा से जुड़ी हुई है। इन मान्यताओं में दलितों के प्रति जो अपमान, तिरस्कार और घृणा का भाव है, उसकी अभिव्यक्ति दलितों के नामकरण में भी परिलक्षित होती है।

हिंदु–व्यवस्था की अमानवीयता का परिणाम इतना भयानक है कि आज भी भारतीय समाज हजारों जातियों में बंटा हुआ है। खंड–खंड में बंटे हुए गांव अलग–अलग राष्ट्र का बोध कराते हैं। जातिगत भेदभाव इस वैज्ञानिक युग में आज भी जड़ जमाए हुए हैं। दलित साहित्य इस जड़ को उखाड़ फेंकने के लिए कृतसंकल्प है। ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में, ''भारतीय समाज में वर्ण–व्यवस्था के आधार पर जो बंटवारा हुआ, उसकी ही देन है जातिभेद। जो असमानता, वर्चस्व और शोषण पर आधारित है। वर्ण–व्यवस्था के पक्षधर यह मानने को तैयार ही नहीं हैं कि विकास को रोक देने वाली यह व्यवस्था प्रगति पथ को सीमित कर देती है और समाज को संकीर्णता में बांध देती है। डॉ. अंबेडकर ने गांव को भारतीय गणतंत्र की अवधारणा का शत्रु माना था। उनके अनुसार हिंदुओं की ब्राह्मणवादी और पूंजीवादी व्यवस्था का जन्म भारतीय गांव में ही होता है। डॉ० अंबेडकर का कहना है कि भारतीय गांव हिंदू–व्यवस्था के कारखाने हैं। उनमें ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद की साक्षात अवस्थाएं देखी जा सकती हैं। उनमें स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। भारत सरकार के गृह मंत्रालय के राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो 2011 के मुताबिक जिस भारत में प्रत्येक दिन 27 जातिगत अत्याचार, प्रत्येक सप्ताह 13 दलितों की हत्या, प्रत्येक सप्ताह 5 दलित घरों का जलाया जाना, प्रत्येक सप्ताह 6

दलितों का अपहरण, प्रत्येक दिन 5 दलित महिलाओं का बलात्कार, प्रत्येक दिन 11 दलितों की पिटाई और प्रत्येक 18 वें मिनट दलितों के साथ अत्याचार होता है। फिर भी साहित्य के मर्मज्ञ, आलोचक और चिंतक खामोश है। फुले–अम्बेडकरवादी वैचारिकी इस खामोशी को तोड़ती है और दलित साहित्य आंदोलन का मार्ग प्रशस्त करती है।

दलित साहित्य की गूंज अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर भी सुनी जा सकती है। कनाडा के टोरंटो विश्वविद्यालय में दलित साहित्य पढ़ाया जा रहा है। भारत के बौद्धिकों, चिंतकों और विमर्शकारों को मंथन करने की जरूरत है कि यहां हजारों वर्षों से जारी यातना, दमन और शोषण का अनवरत सिलसिला अंतर्राष्ट्रीय पटल पर भारतीय सभ्यता–संस्कृति की कौन सी छवि गढ़ रहा है? जहां अभी भी विभिन्न भाषाओं–बोलियों और संस्कृतियों के बीच वर्ण, जाति, धर्म और वर्चस्व की क्रूरताएं एवं विदूपताएं जड़ जमाए हुए हैं। हम 21वीं शताब्दी के किस लोकतांत्रिक युग में सांस ले रहे हैं जहां संवेदनहीनता का सन्नाटा पसरा पड़ा है। दलित साहित्य आंदोलन इस सन्नाटे को भंग करता है और उन करताओं, विद्रूपताओं और विडम्बनाओं के खिलाफ वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ लेखन कर रहा है। जिन्हें सदियों से अपमान, अनादर, घृणा, हिंसा, अत्याचार एवं उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा है. वे अहिंसक तरीके से आत्मसम्मान, गरिमा, अधिकार, भागीदारी और समानता के लिए लेखन कर रहे हैं। बिखरे और टूटे हुए समाज को जोड़ने के लिए लिख रहे हैं। जरूरत है इनकी आवाजों को अपनेपन के साथ सुनने की और सामाजिक परिवर्तन के लिए सहयोगी भूमिका निभाने की, जिससे एकता और अखंडता अक्षुण्य रह सके। 21वीं सदी के वैज्ञानिक एवं तकनीकी कांति के दौर में भारत अभी भी समतापरक समाज नहीं बन सका है। अमानवीय और असंवेदनशील कृत्य अब तक बदस्तूर जारी हैं। भारत में अभी भी सिर पर मैला ढोने की प्रथा एक विवशता बनी हुई है। सरकारी और गैर सरकारी आंकड़े घृणा, हिंसा और असमानता की दास्तां बयां कर रहे हैं। भारतीय समाज की असहिष्णुता और संवेदनहीनता राष्ट्र की तरक्की में बाधक हैं। भारत को यदि दुनिया के विकसित देशों की कतार में खड़ा होना है तो सबसे पहले सामाजिक–आर्थिक विषमता को मिटाकर एक समतापरक व्यवस्था के लिए प्रतिबद्ध होना होगा। दलित साहित्य आंदोलन फुले और डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी को आधार बनाकर समतामूलक व्यवस्था की जमीन तैयार कर रहा है।

'दलित' और 'दलित साहित्य' अपनी अर्थवत्ता, व्यापकता. सार्थकता तथा अस्मितागत बोध के रुप में आज विद्वज्जनों के मध्य साहित्यिक विमर्श के विषय बने हुए हैं, अतः दलित का आशय' व्यापक दृष्टि और बहस की मांग करता है। डॉ. अंबेडकर का निष्कर्ष था कि "भारतीय समाज का ताना–बाना अभी जाति–व्यवस्था पर आधारित है और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण भी जाति के आधार पर होता है। प्रत्येक हिंदू (यहां इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा रहा है) जिस जाति में जन्म लेता है उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन का निर्धारण करती है। यह स्थिति मां की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है। भारतीय समाज व्यवस्था में जाति निर्धारण के संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर ने जो अवधारणा दी है वह गहरे चिंतन–मनन और शोध के आधार पर है। उनकी यह दृष्टि हिन्दू व्यवस्था के बरक्स समतापरक व्यवस्था की आकांक्षा को ध्यान में रखते हुए व्यापक संदर्भो से जुड़ी हुई है। उनका मानना था कि जाति–व्यवस्था संपूर्ण भारतवर्ष के विकास में अवरोधक है। इसका खात्मा सभी के लिए हितकर है। उनका संपूर्ण चिंतन और आंदोलन समग्र मनुष्य और समाज के लिए था जिससे दलित साहित्यांदोलन गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। इन सरोकारों को ध्यान में रखते हुए दलित' शब्द की व्यापकता को समझा जाना चाहिए। यह भी ध्यान में होना

चाहिए कि दलित पँथर आंदोलन के दौरान इस शब्द की व्याप्ति स्त्री, आदिवासी, पिछड़े और अन्य उपेक्षित–वंचित तक थी। धीरे–धीरे समयांतराल में यह शब्द साहित्य, समाज और राजनीति में अपना अर्थ बदलता गया। इस आलोक में ही दलित शब्द के आशय को समझा जाना चाहिए। कोई भी परिभाषा स्थाई नहीं होती है। समय, काल और परिवेश के अनुसार उसका अर्थातर होता रहता है, लेकिन वैचारिकी के सरोकारों और ऐतिहासिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए ही दलित शब्द को व्याख्यायित किया जाना चाहिए। मराठी से हिन्दी तक आते–आते दलित शब्द की भिन्न–भिन्न व्याख्याएं देखने को मिलती हैं जिसका तार्किक और वैचारिक विश्लेषण आवश्यक है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचौन' दलित शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं–दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है। इसी प्रकार कंवल भारती का मानना है कि दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया और जिस पर सूछतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है, और इसके अंतर्गत वही जातियां आती हैं, जिन्हें अनुसचित जातियां कहा जाता है।

उपर्युक्त व्याख्याएंध्परिभाषाएं दलित शब्द को सीमित करती हैं। बहुजन या बहुसंख्यक समुदायों को दलित साहित्यांदोलन की वैचारिकी से जोड़ नहीं पाती है। नेतृत्व और भागीदारी का सवाल दलित के संदर्भ में बहुत बड़ा सवाल है। राजनीतिक अर्थों में भी दलित की व्यापकता को समझा जाना चाहिए।

मोहनदास नैमिशराय का मानना है कि ''दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इस दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है. लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते...अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है। मराठी कवि नारायण सुर्वे का कहना है कि 'दलित' शब्द की मिली जुली परिभाषाएं हैं। इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं, समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित हैं।' शरण कुमार लिंबाले दलित' शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखते हैंः 'सर्वप्रथम दलित साहित्य में 'दलित' शब्द की व्याख्या निश्चित करनी होगी। दलित केवल हरिजन और नव बौद्ध नहीं। गांव की सीमा से बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियां, आदिवासी, भूमिहीन खेत मजदूर, अमिक कष्टकारी जनता और यायावर जातियां सभी की सभी 'दलित' शब्द से व्याख्यायित होती हैं। दलित शब्द की व्याख्या में केवल जाति का उल्लेख करने से नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों को भी शामिल करना होगा।

डॉ. अंबेडकर को दलित आंदोलन का प्रेरक और प्रवर्तक मानने वाले सुविख्यात मराठी दलित साहित्यकार डॉ. गंगाधर पानतावणे दलित' शब्द को व्याख्यायित करते हैंः "दलित क्या है? 'दलित' कोई जाति नहीं बल्कि परिवर्तन और क्रांति का प्रतीक है। दलित मानवतावाद में विश्वास करता है। परंतु वह ईश्वर के अस्तित्व, पुनर्जन्म, आत्मा तथा उन तथाकथित धार्मिक ग्रंथों को अस्वीकार करता है जो भेदभाव की शिक्षा देते हैं। वह भाग्य तथा स्वर्ग की अवधारणाओं को भी अस्वीकार करता है, क्योंकि ये ही विचार उसको दासत्व का बोध कराते रहे हैं। वह इस देश में दबाए सताए हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जो वर्षों से जानवर से भी बदतर जिंदगी जीने को अभिशप्त हैं। वह विरोध करता है एक बहुत ही सूझ–बूझ के साथ विकसित की गई हिंदू

सामाजिक–व्यवस्था का जिसने कि मानव के रुप में उसके अस्तित्व को कभी स्वीकार ही नहीं किया तथा मानवीय गरिमा का निरन्तर निरादर किया गया। जिसके मृत–प्राय शरीर को पीड़ा और वेदना का संत्रास झेलना पड़ा। यही अलगावाद का बोध उन हजारों दलितों के पुनर्जागरण का अक्षयस्रोत है।''

समकालीन हिंदी साहित्य आंदोलन में दलित शब्द नवीन अर्थवत्ता के साथ प्रयुक्त हो रहा है। ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में –''दलित' शब्द हमारे लिए एक बहुत ही प्रेरणादायक शब्द है। हम इसे दल के साथ जोड़ते हैं, जो सामूहिक तौर पर कार्य करता है, जीवन को सामाजिक तरीके से जीता है और समाज से अलगाव दूर करता है। इसी के आधार पर हमने दलित शब्द को स्वीकार किया है और दलित एक आंदोलन का प्रतीक है हमारे लिए। और ऐसा पहली बार हुआ है इतिहास में कि दलितों ने अपने लिए एक अपना शब्द चुना है। अभी तक वे अपने लिए दूसरे के दिए शब्दों को स्वीकार करते रहे हैं। यहां तक कि उनके बच्चों के नाम भी दूसरे रखते थे। अपने नाम रखने के लिए भी वे स्वतंत्र नहीं थे। लेकिन यह पहली बार हुआ है कि उन्होंने अपने लिए एक शब्द चुना है, जो उनके लिए एक संघर्ष का प्रतीक

'दलित' शब्द की तमाम परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गंगाधर पानतावणे. ओम प्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, नारायण सुर्वे और शरण कुमार लिंबाले द्वारा 'दलित' शब्द को व्यापक अर्थों में व्याख्यायित किया गया है। गंगाधर पानतावणे 'दलित' शब्द के अर्थ को वैचारिक स्वरुप प्रदान करते हुए इसकी अवधारणा को भी स्पष्ट करते हैं। कहा जा सकता है कि दलित' शब्द अस्मिताबोध का सूचक है। जो साहित्य के साथ जुड़कर एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है, जो मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति है। जनमानस और मीडिया की दृष्टि में दलित शब्द भारतीय समाज के वंचित एवं हाशिए की जातियों–उपजातियों की सामुदायिक पहचान के रूप में भले ही जाना जाता हो लेकिन ऐतिहासिक सच यह है कि दलित विमर्श एवं साहित्य के संदर्भ में दलित शब्द स्वयं में चेतना का प्रतिरूप है । यह सिर्फ किसी विशेष जाति–उपजाति से सम्बद्ध न होकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति हेतु अम्बेडकरवादी एवं अन्य परिवर्तनकामी विचारधारात्मक वर्गों के संघर्ष का प्रतीक है। भारत की सामाजिक–धार्मिक–सांस्कृतिक व्यवस्था की संरचना में उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित और अधिकारों से वंचित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला दलित शब्द सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा का पर्यायवाची बन चुका है। असमानता, अन्याय, ऊंच–नीच, अस्पृश्यता तथा उत्पीड़न की शिकार वे सभी जातियां जो हिन्द् व्यवस्था के अंदर चिहित की गई हैं, के वर्ग समूह को दलित वर्ग के रूप में आज पहचान मिली है। इसका ऐतिहासिक महत्व यह है कि दलित शब्द संबंधित वर्ग का अपना स्वयं का चेतनागत (सचेतन) चुनाव है जो इतिहास बोध से गहरे तक जुड़ा है । दलित पहचान से भिन्न दूसरे वर्ग, जाति, समुदाय या व्यक्ति द्वारा विहित अतिशूद्र, पंचमा, चांडाल, अन्त्यज, अछूत, अस्पृश्य तथा हरिजन जैसे शब्दों को नकार कर दलित शब्द प्रचलन में आया है। निष्कर्षतः यह शब्द हिस्सेदारी और मानवीय अधिकारों की मांग एवं संघर्ष का प्रतीक बन चुका है, साथ ही तमाम जातियों–उपजातियों में विभाजित समाज का वर्ग समूह बनने की ओर अग्रसर है। आज अंतर्राष्ट्रीय पटल पर जाति, नस्ल, समुदाय तथा हाशिए के अन्य लोगों के समान अधिकारों की लड़ाई और किसी भी प्रकार के भेदभाव के विरोध एवं संघर्ष में 'दलित' सहयोगी शब्द का स्थानापन्न बन चुका है।

दलित चेतना का दार्शनिक और वैचारिक आधार का स्रोत गौतम बुद्ध ही रहे हैं। बुद्ध भारतीय इतिहास के प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने वर्ण–व्यवस्था के औचित्य को चुनौती दी और उसे अन्यायपूर्ण ठहराया। श्रावस्ती प्रवास के दौरान सुनीत नामक भंगी को अपने

संघ में शामिल करके दलितोद्धार का वह मार्ग प्रशस्त किया जो आने वाले युगों–युगों तक दलित–मुक्ति का मार्ग अवलोकित करता रहा। परंतु आधुनिक दलित चेतना के जनक डॉ. अंबेडकर को ही माना जाता है क्योंकि इन्होंने एक व्यवस्थित सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विकल्प दिया। साथ ही स्त्री, उपेक्षित और पिछड़े वर्ग के लिए सम्मान, गरिमा, अधिकार और न्यायपूर्ण व्यवस्था सुनिश्चित कराया। उनकी दीक्षा के दौरान ली गई 22 प्रतिज्ञाएं दलित चेतना की उत्प्रेरक हैं।

दलित चेतना, इसकी मूल प्रेरणा और आंदोलन को हिंदी के दलित लेखक, कवि और आलोचक ओम प्रकाश वाल्मीकि के कथनों से समझा जा सकता हैः ''दलित चेतना एक प्रति सांस्कृतिक चेतना है, बल्कि एक वैकल्पिक चेतना भी है। इसलिए विद्रोही है। इस चेतना की जड़ में भारतीय सामाजिक संरचना है। जो न सिर्फ जाति पर आधारित है बल्कि इसे धार्मिक वैधता भी प्रदान करती है। जाति–व्यवस्था सामाजिक दुराव के सिद्धांत पर आधारित है। यह हमारे सामाजिक संबंधों को ही नहीं बल्कि धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पक्षों को भी प्रभावित करती है। यह गुलामी की संपूर्ण व्यवस्था है, हिंदू समाज–व्यवस्था में प्रारंभ से ही धर्म की प्रधानता और अर्थ गौण रहा है। व्यावहारिक स्तर पर हिंदुत्व की जो अवधारणा आम आदमी तक पहुंचती है, वह बहुत हद तक जातीय आचार–व्यवहार और संस्कार से परिसीमित हुई रहती है। स्वतंत्रता के बाद भी यह स्थिति किसी न किसी रूप में बनी हुई है। बदलाव के बावजूद दलित वर्ग को मूलभूत सुविधाओं से वंचित रखने का प्रयास जारी है।

समकालीन संदर्भो में जाति–पांति, ऊंच–नीच, छुआछूत, लिंगभेद, भाग्य–भगवान, कर्मकांड, पुनर्जन्म, स्वर्ग–नरक, पाखंडवाद, पुरोहितवाद, अंधविश्वास तथा अन्य ब्राह्मणवादी वर्चस्व का दलित चेतना विरोध करती है। दलित साहित्य में दलित चेतना का यही मूल आधार और प्रमुख स्वर है जो यथास्थितिवाद को नकारकर नवीन मानदंडों और सौन्दर्यबोध में रूपांतरित होता है। दलित चेतना के बोध और विकास की पृष्ठभूमि एवं निर्मिति में बाबा साहेब का जीवन संघर्ष, दर्शन और आंदोलन एक आधारशीला है जो मानवीय गरिमा से संपृक्त है। ज्योतिबा फुले एवं अन्य परिवर्तनकामी आंदोलनों की परंपरा से भी दलित चेतना का स्वरूप बना है।

ज्योतिबा फुले ने अपनी पत्नी सावित्रीबाई के साथ पहली बार 1848 ई0 में महिलाओं के लिए एवं 1851 ई0 में अछूतों के लिए स्कूल खोला। डॉ. अम्बेडकर द्वारा सन् 1927 में महाड़ आंदोलन एवं मनुस्मृति दहन, सन् 1930–31 में नासिक का कालाराम मंदिर प्रवेश आंदोलन, 1930 में लंदन के प्रथम गोलमेज परिषद में दलितों के राजनैतिक अधिकारों की मांग, 1942 में नागपुर में 'शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन' के गठन के समय तीस हजार दलित महिलाओं की मौजूदगी में 'दलित महिला फेडरेशन की स्थापना तथा 1945 में मुम्बई (तत्कालीन बंबई) में सिद्धार्थ कॉलेज, औरंगाबाद में मिलिन्द कॉलेज की स्थापना और 'शिक्षित बनो, संघर्ष करो, संगठित हो' का नारा ने दलित चेतना की वैचारिकी को आधारभूमि प्रदान किया। भारतीय संविधान के प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्गों के संवैधानिक अधिकारों को सुनिश्चित कर दलित चेतना का मार्ग प्रशस्त किया। 14 अक्टूबर 1956 को डॉ. अम्बेडकर द्वारा बौद्ध धम्म की दीक्षा से दलित चेतना की विकास प्रक्रिया को गति मिली।

डॉ. अम्बेडकर के परिनिर्वाण (6 दिसम्बर,1956) के बाद 2 मार्च 1958 ई0 को मोरबाग. दादर मम्बई में दलित लेखकों का प्रथम सम्मेलन, 27 नवम्बर 1967 ई० में औरंगाबाद, महाराष्ट्र में 'मिलिन्द साहित्य परिषद' की स्थापना, 'अस्मिता' तथा बाद में 'अस्मितादर्श' नामक त्रैमासिक पत्रिका का निरंतर प्रकाशन, 9 जुलाई सन् 1972 ई० को मराठी दलितों द्वारा 'दलित पैंथर्स' की स्थापना तथा सन् 1972 में ही नामदेव ढसाल का महत्वपूर्ण दलित काव्य संकलन 'गोलपिठा' का

प्रकाशन दलित साहित्य में दलित चेतना का प्रस्थान बिन्दु है। मराठी दलित काव्य का यह चेतनामयी स्वरूप कालान्तर में भारत की अन्य भाषाओं में विकासमान हआ। आज भारत की लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में अम्बेडकरवादी विचारधारा को केन्द्र में रखकर दलित चेतना का साहित्यिक रूप सामने आया है। दलित दृष्टि और चिंतन पर शोधरत अंग्रेज लेखिका एलिनॉर जिलियट के अनुसार –''1970 के शुरुआती दौर में मराठी आंदोलनों ने अंग्रेजी प्रेस द्वारा नोटिस लेने योग्य पर्याप्त महत्ता प्राप्त की–ये हैं दलित पैंथर्स और दलित लिट्रेचर।

इससे यह विदित होता है कि दलित चेतना को मजबूती और दलित साहित्य को आंदोलन का रूप देने में दलित पैंथर की महत्वपूर्ण भूमिका है। दलित चेतना की विकासमान स्थितियों को समझने के लिए दलित पैंथर आंदोलन की व्यापकता और प्रतिबद्धता पर निगाह डालना जरूरी है। इस आंदोलन के संदर्भ में डॉ0 चंद्र कुमार वरठे ने अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य आंदोलन' में व्यापक दृष्टि डाली है। वे दलित पैंथर आंदोलन का विस्तृत ब्यौरा देते हुए लिखते हैं –''दलित पैंथर को जन्म दिया महाराष्ट्र के कुछ युवा मराठी (दलित) साहित्यकारों ने जिनके मन में दलितों के शोषण एवं उत्पीड़न के प्रति रोष की चिंगारियां शोले बनकर भड़क उठीं। उन साहित्यकारों ने अपना आक्रोश एवं आवेग मात्र शब्दों के कागजी घोड़े नचाकर ही अभिव्यक्त नहीं किया, बल्कि उसे कार्य रूप देने के लिए एक संगठित रुप भी विकसित किया। दलित पैंथर उस युवा शक्ति का नाम है, जो मान, अपमान, सफलता, असफलता की चिन्ता किये बिना जिस समाज में पैदा हुए उस समाज की मुक्ति के लिये संघर्ष करना अपना कर्त्तव्य समझता है। दलित पैंथर नागपुर प्रदेश द्वारा प्रसारित (मराठी) पैम्फलेट की विषय–वस्तु कुछ इस प्रकार की हैः दलित के मुक्ति संघर्ष में सक्रिय सहयोग के लिये दलित पैन्थर का आह्वानः–

''भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त, स्वातंर्त्य, समता, बन्धुत्व एवं न्याय इन मानवीय मूल्यों का उपयोग जहां हम कर नहीं सकते, वह हमारा राष्ट्र कैसे हो सकता है? जहां हमारी मां–बहिनों को नग्न करके उनको सरेआम घुमाया जाता है, (सिरसगांव, वामणगांव) वह हमारा राष्ट्र कैसे हो सकता है? जहां सामूहिक रूप से हमें जिन्दा जलाया जाता है (किलावेनमणी, बेलछी) वह राष्ट्र हमारा कैसे हो सकता है?

डॉ. चंद्र कुमार वरठे के शब्दों में– ''हुआ यूं कि मराठी के एक लेखक श्री राजा ढाले का 'काला स्वतन्त्रता दिवस' शीर्षक लेख मराठी साप्ताहिक 'साधना' में प्रकाशित हुआ यही लेख, बल्कि इसकी कुछ पंक्तियां ही ''दलित पँथर के आन्दोलन की आधारशिला बन गई।''दलित चेतना का परिवतेनकामी आंदोलन डॉ० अम्बेडकर के राजनैतिक मंच पर उदित होने के उपरान्त आरंभ हुआ जिसका उत्स 1920 में प्रकाशित 'मूकनायक' नामक पत्रिका से माना जाता है। डॉ. अम्बेडकर द्वारा शुरू किया गया सुचिंतित सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन दलित चेतना का मुख्य आधार है। गुजराती दलित कवि जयंत परमार दलित चेतना के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हैं कि अम्बेडकर दर्शन ने दलित कवियों के मन में आत्म–सम्मान जाग्रत किया हैय उसके फलस्वरुप जीवनानुभव को देखने और पहचानने की उनकी भूमिका विद्रोह तथा नकार से भर उठी। उसका आवेग किसी तूफान की तरह है। उसका सौंदर्य और उसका सामर्थ्य उसकी वेदना में है। बाबूराव बागूल की धारणा है कि दलित चेतना साहित्य और आम आदमी के संबंधों को व्यापकता देती है।''

ओम प्रकाश वाल्मीकि स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ''दलित चेतना का सीधा संबंध अंबेडकर–दर्शन से है। वही प्रेरणास्रोत भी हैं। सामाजिक उत्पीड़न, सामंती सोच, वर्ण–व्यवस्था से उपजी ऊंच–नीच ने दलितों को शताब्दियों से मानसिक गुलामी में जकड़कर रखा हुआ है। उसकी मुक्ति के तमाम रास्ते बंद थे, इस गुलामी से मुक्त होने का विचार ही दलित चेतना है जिसे ज्योतिबा फले और डॉ० अंबेडकर ने दार्शनिक आधार दिया।18

दलित साहित्य के संदर्भ में दलित चेतना की पृष्ठभूमि, प्रेरणास्रोत और विकास प्रक्रिया की समझ बहुत जरूरी है। गौतम बुद्ध, बौद्ध दार्शनिक, ज्योतिबा फुले और डॉ. अम्बेडकर के दर्शन एवं आंदोलनधर्मी संघर्षयात्रा को पढ़े या समझे बगैर दलित चेतना को समझना असंभव है। वर्णव्यवस्था को चुनौती, सामाजिक व्यवस्था का विकल्प, अधिकार, समता, न्याय और भागीदारी के सवाल से दलित चेतना का सीधा संबंध है। यह चेतना डॉ. अम्बेडकर के चिंतन से निर्मित वैचारिकी है जो दलित साहित्य आंदोलन के रूप में फलीभूत हुई है। दलित, दलित चेतना, दलित साहित्य आंदोलन और डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी का अनन्य संबंध है। दलित आंदोलन और दलित साहित्य की अवधारणा के मूल में भी अम्बेडकरवादी वैचारिकी ही है। यह बिल्कुल अधनातन प्रवत्ति है। इसे मध्यकाल या आदिकाल तक खींच ले जा प्रवृत्ति घातक है। दलित आंदोलन से उपजे पदबंधों की ऐतिहासिकता को समझे बगैर कुछ आलोचकध्‍ विचारकध्‍ पाठक दलित साहित्य की खोज करते हुए भटक जाते हैं और रामचरितमानस से लेकर वेद तक में दलित साहित्य के स्रोत दंढ लाते हैं। यह दलित साहित्य आंदोलन को कुंद करने की साजिश है। साहित्यालोचना में यह सायास और अनायास अभी भी जारी है। ऐसा करके दलित साहित्य को दिग्भ्रमित किया जा रहा है। दलित जीवन के वर्णन या दलित पात्रों के उल्लेख मात्र से न तो कोई रचना दलित साहित्य का हिस्सा बन सकती है और न ही रचनाकार। दलित और दलित चेतना का आंदोलनधर्मी स्वरूप जाने बगैर दलित साहित्य को नहीं समझा जा सकता है। यह आंदोलन भले ही महाराष्ट्र की जमीन से उपजा हो लेकिन इसकी संवेदना और स्वरूप राष्ट्रीय है। यहां भाषा बाधक नहीं है। दलित चेतना पदबंध का विशिष्ट अर्थ और प्रयोग है जिसे दलित साहित्य की रचनाओं के आधार पर ही समझा जा सकता है। दलित साहित्य की अवधारणा के संदर्भ में दलित चिंतक डॉ० तुलसीराम के विचारः 'दलित साहित्य का आधार डॉ0 अंबेडकर के विचार हैं। ये विचार दलितों के धार्मिक शोषण के विरुद्ध पनपे थे। बुद्ध के प्रभाव में लिखे गए जिस साहित्य को ब्राह्मणों ने आठ सौ वर्ष पूर्व नष्ट कर दिया था, उसे डॉ0 अंबेडकर ने पुनर्जीवित करने का अभियान छेड़ा। यही कारण है कि बिना अंबेडकर के दलित साहित्य की बात नहीं की जा सकती।

मराठी दलित रचनाकार अर्जुन डांगले के अनुसारः 'सामाजिक व्यवस्था और विषमता के विरुद्ध आंदोलन खड़ा करके एक नए समाज का निर्माण करना, यह दलित साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है। डॉ० विमल थोरात का मानना हैः 'दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है, जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्व' की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परम्पराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है। शरण कुमार लिंबाले के शब्दों में 'दलित साहित्य का अनुभव, अब तक साहित्य में न व्यक्त हुआ अनुभव है। यह जाति विशेष का अनुभव है, इसलिए यह एक व्यक्ति का होते हुए भी पूरी जाति को प्रतिनिधित्व देता है, उसकी पीड़ा और आक्रोश को प्रतिबिम्बित करता है। दलित साहित्य में अनुभव, स्वतंत्रता की आकांक्षा से व्यक्त होता है। उसका स्वरुप 'मैं' की अपेक्षा 'हम' जैसा है। इसी अनुभव ने दलित लेखकों को लिखने के लिए प्रेरित किया।

''असमान व्यवस्था के नीचे पिसे हुए मनुष्य को केंद्र मानकर जाति—व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा इसी अनुभव से मिली। इसका स्रोत अंबेडकर के विचार हैं। 'दलित' होने का ज्ञान गुलाम को गुलामी के ज्ञान की तरह है। यह ज्ञान ही दलित साहित्य का सार है। यह ज्ञान अन्य लेखकों की अपेक्षा दलित लेखक के ज्ञान को अलग करता है, उसे विशिष्ट बनाता हैं। दलित लेखक के लेखन का आधार उसका निजी अनुभव है। उसके लेखन में हमेशा एक भूमिका रहती है कि इसके विरुद्ध विद्रोह करना है, यह नकारना है अथवा इसका निर्माण करना है। पहले से निर्धारित विश्वास से

दलित लेखक लिखता है, इसीलिए उसका लेखन उद्देश्यपूर्ण है। दलित लेखक सामाजिक जिम्मेदारी से लिखता है। उसके लेखन में ऐक्टिविस्ट (कार्यकर्त्ता) का आवेश एवं निष्ठा व्यक्त होती है। समाज बदलेय समाज अपने सवाल समझे–यह तिलमिलाहट उसके लेखन में व्यक्त होती है। दलित लेखक आंदोलन करके लिखने वाला कार्यकर्ता कलाकार है। यह अपने साहित्य को आंदोलन मानता है। उसका लगाव 'समग्र ब्रोकेन मेन' से है। सभी टूटे, पिछड़े मनुष्यों से है।

दलित साहित्य का जीवन दर्शन आज तक व्यक्त हुए जीवन दर्शन से भिन्न है। एक नया संस्कार, एक नया समाज, एक नया मनुष्य पहले पहल साहित्य में व्यक्त हुआ है। दलित साहित्य का यथार्थ अलग है। इस यथार्थ की भाषा अलग है। वर्ण–व्यवस्था के अमानवीय बंधनों ने शताब्दियों से दलितों के भीतर हीनता भाव को पुख्ता किया है। धर्म और संस्कृति की आड़ में साहित्य ने भी इस भावना की नींव सुदृ ढ़ की है। ऐसे सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण किया गया जो अपनी सोच और स्थापनाओं में दलित विरोधी हैं। जो समाज के अनिवार्य अन्तर्सम्बन्धों को खंडित करने में सहायक रहा है। ओम प्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि ऐसे प्रतिकूल, नैराश्यपूर्ण क्षणों में भी दलित कवियों ने हीन भावना का त्याग करके सजगता और सतर्कता से विसंगतियों और विषमताओं के बीच दलित साहित्य को जीवन के सरोकारों से जोड़ा। दलित कवि साहित्य के मूलभूत प्रयोजनों से साक्षात्कार करता है। यह दलित कवि की सहज और अनिवार्य प्रतिबद्धता है, उसकी रचनात्मक ऊर्जा है।

दलित साहित्यकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ रचनाकर्म से जुड़कर साहित्य की सृजनात्मकता में मानवीय सरोकारों, संवेदनाओं और स्वतन्त्रता, भाई–चारे की भावनाओं को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति और उसकी पीड़ा, उसके सुख–दुःख महत्वपूर्ण हैं। उसमें दलित हो या स्त्री, उसके प्रति रागात्मक तादात्म्य स्थापित करना दलित साहित्य का प्रमुख प्रयोजन है। दलित चिन्तन ने नया आयाम देकर साहित्य की भावना का विस्तार किया है। पारम्परिक और स्थापित साहित्य को आत्मविश्लेषण और पुनर्विश्लेषण के लिए बाध्य किया है। झूठी और अतार्किक मान्यताओं का निर्ममता से विरोध किया है। अपने पूर्व साहित्यकारों के प्रति आस्थावान रहकर नहीं, बल्कि आलोचनात्मक दृ ष्टि रखकर दलित साहित्यकारों ने पुनर्मूल्यांकन की जद्दोजहद शुरु की है, जिससे जड़ता टूटी है। साहित्य आधुनिकता और समकालीनता की ओर अग्रसर हुआ है।

दलित लेखन केवल दलितों के अधिकार एवं मूल्यों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि सामाजिक सन्दर्भो के साथ जुड़कर समूचे समाज की अस्मिता और मूल्यों की पहचान बनता हैं। रमणिका गुप्ता का कहना है कि 'दलित साहित्य उस दबी हुई अस्मिता को प्राणवान मानव–अस्मिता का हिस्सा बनाने की लड़ाई लड़ रहा होता है, जब वह वर्णविहीन, वर्गविहीन, जातिविहीन समाज बनाकर एक मानवीय समाज बनाने की घोषणा करता है। जनवादी, प्रगतिशील और जनतान्त्रिक साहित्य जो भारत के जन्मना जाति के सन्दर्भ में केवल वर्ग की ही बात करते–करते एकतरफा, कहें कि इकहरा हो गया था–दलित साहित्य ने सामाजिक समानता और राजनीतिक भागीदारी को भी साहित्य का विषय बनाकर उनकी आर्थिक समानता की अधूरी मुहिम को पूर्णता दी। इन तीनों मुद्दों पर समानता प्राप्त किए बगैर मनुष्य पूर्ण समानता प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य इस पूर्ण समानता के लिए संघर्षरत है। 46 'भारतीय समाज–व्यवस्था ने दलित और गैर–दलित के सामाजिक जीवन में जो फासला निर्मित किया है, उसके परिणामस्वरुप गैर–दलित दलित जीवन और उनकी जिजीविषा की दग्धताओं से यदि अपरिचिति है, तो यह आश्चर्यजनक नहीं बल्कि इस व्यवस्था का ही परिणाम है। जब वे इस जीवन की सच्चाइयों को जानते ही नहीं हैं तो उस पर जो भी लिखेंगे वह केवल बाह्य चित्रण

होगा जो सहानुभूति और करूणा से उपजा हुआ होगा न कि किसी बदलाव या सन्ताप की आकांक्षा से। 'कई विद्वानों, रचनाकारों, आलोचकों का मत है कि दलितों पर लिखने के लिए दलित होना जरुरी नहीं है। उनका तर्क है कि घोड़े पर लिखने के लिए घोड़ा होना जरुरी नहीं है। लेकिन दलित लेखक इस तर्क से सहमत नहीं हैं। घोड़े की पीड़ा को समझे बगैर, उसका बाह्य–चित्रण उसकी भावनाओं का काल्पनिक रेखांकन भर ही होगा। थका–माँदा, भूखा–प्यासा घोड़ा अपने मालिक के प्रति क्या भाव रखता है, इसे सिर्फ घोड़ा ही बता सकता है।

दलित आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित विमर्श की दृष्टि से सिद्ध किया हैय 'इसी प्रकार दलितों ने हजारों वर्ष की सामाजिक यातना में जो भोगा है, उनके जो अनुभव हैं, उन्हें गैर–दलित जान ही नहीं पाता है। इसलिए उसकी पीड़ा के साक्षात्कार की उनकी कल्पना अधूरी होती है। यही वजह है कि हिन्दी साहित्य में दलितों की पक्षधरता का दम्भ भरने वाले लेखकों की रचनाएँ सिर्फ सहानुभूतिपरक या फिर करूणाजन्य होती हैं, किसी बदलाव की प्रक्रिया को तीव्रता देने के लिए नहीं। बदलाव तथा क्रान्ति की स्थितियाँ आने से पूर्व ही या तो ऐसे रचनाकार पाला बदल लेते हैं या फिर यथास्थिति बनाए रखने में मदद देते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' का सूरदास हो या गिरिराज किशोर के 'परिशिष्ट' का नायक, परिवर्तन बिन्दु पर पहुँचते ही वे पलायन कर जाते हैं या समझौता करके आदर्शवाद का उदाहरण बन जाते हैं। यही स्थिति 'धरती धन न अपना' (जगदीश चन्द्र) में भी है। तमाम सम्भावनाओं और संघर्षशील चरित्र की उम्मीदों के बीच नायक अचानक पलायन कर जाता है। अमृत लाल नागर का मशहूर उपन्यास 'नाच्यो बहुत गोपाल' में भी लेखक अंततः ब्राह्मणवादी संस्कार से बाहर नहीं निकल पाया है।'

दलित लेखक इन स्थितियों का सामना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि दलितों की पीड़ा दलित ही समझ सकता है, वही उस पीड़ा का प्रामाणिक प्रवक्ता भी है। 'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव इस तथ्य को स्वीकारते हैं। उनका कहना है कि 'दलित लेखकों की यह जिद है कि नुमाइन्दगी या प्रतिनिधित्व की यह राजनीति बहुत दूर और देर तक उनकी बात नहीं कह सकती। दुनिया का कोई वकील, अपनी सारी निष्ठा और ईमानदारी या कानूनी पैंतरेबाजी के बावजूद वादी की तड़प, यातना और गुस्से को नहीं बता सकता, जितना वे स्वयं व्यक्त कर सकते हैं। डॉ0 तुलसीराम दो तथ्य को दलित साहित्य का मूल मन्त्र मानते हैं। एक है, बौद्ध दर्शन और दूसरा है, अंबेडकर का दर्शन तथा उनका संघर्षय इन दोनों के मिश्रण से दलित साहित्य जन्मा है। जो भी इन दोनों को अपनाएगा, वह दलित साहित्यकार कहलाएगा।'' दलित साहित्य की अवधारणा की विशिष्टताओं को ओम प्रकाश वाल्मीकि के निष्कर्षों से समझा जा सकता है। प्रमुख बिन्दु हैं:

1. मुक्ति और स्वतन्त्रता के सवालों पर डॉ0 अम्बेडकर के दर्शन को स्वीकार करना।
2. बुद्ध का अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, पाखंड–कर्मकांड विरोध।
3. वर्ण–व्यवस्था विरोध, जातिभेद–विरोध, साम्प्रदायिकता विरोध ।
4. अलगाववाद का नहीं, भाईचारे का समर्थन।
5. स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता।
6. सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्धता।
7. आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद का विरोध ।
8. सामन्तवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध ।
9. अधिनायकवाद का विरोध ।
10. महाकाव्य की रामचन्द्र शुक्लीय परिभाषा से असहमति।
11. पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र का विरोध ।
12. वर्णविहीन, वर्गविहीन समाज की पक्षधरता।
13. भाषावाद, लिंगवाद का विरोध।

लेखकीय चेतना और सामाजिक–राजनीतिक चेतना के बीच गहरा अंतर्संबध है जो विचार, तर्क और स्थापना, सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में राजनीति को प्रेरित करते

हैं, वे लेखन को भी प्रेरित करते हैं। यदि दलित राजनीति के प्रेरणा पुरुष डॉ० अंबेडकर हैं, तो दलित साहित्य में भी उन्हीं के विचारों की प्रतिष्ठा है। दलित साहित्य का मुखर स्वर वही है, जो सामाजिक विभेद, वर्ण–व्यवस्था, ब्राह्मणवादी नैतिकता, सामाजिक संरचनात्मक अन्याय और शोषण के विरुद्ध तैयार हुई विचार प्रक्रिया से निर्मित हुआ है। क्योंकि दलित चेतना विरोध और प्रतिकार की चेतना है, इसलिए दलित साहित्य भी विरोध और प्रतिकार का साहित्य है। प्रतिकार की चेतना का संवाहक होना ही इसका सौंदर्य है।

हजारों साल के ऐतिहासिक परिदृश्य में दलितों ने जो सामाजिक उत्पीड़न सहा है, विषमताएं झेली हैं, भेदभाव और शोषण ने उसके मस्तिष्क पर जो गहरी रेखाएं खींची हैं, ऐसी वर्ण–व्यवस्था से उपजी विषमताओं और विसंगतियों को दृष्टि में रखकर ही दलित साहित्य का विश्लेषण करके सौंदर्यशास्त्र और साहित्यिक मूल्यांकन के अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। साहित्यिक सृजन दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उसे पहचानने का भी एक साधन है। साहित्य और कला के प्रति यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था में साहित्य के महत्व का उचित मूल्यांकन भी है। दलित साहित्य के दलित जीवन का यथार्थवादी चित्रण यथार्थ की मात्र नकल नहीं है, बल्कि साधारण परिस्थितियों के साधारण चरित्रों का वास्तविक पुनर्रसजन है। ओम प्रकाश वाल्मीकि सचेत करते हैंः ‘‘दलित साहित्य के मूल्यांकन से पूर्व परम्परावादी समीक्षकों को भारतीय समाज–व्यवस्था, वर्ण–व्यवस्था, जातिभेद, जाति संघर्ष, विषमताओं, भेदभावों, सामंती सोच, ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण, अन्तर्विरोधों, आर्थिक, सामाजिक भारतीय मनःस्थितियों, सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों का विश्लेषण करना होगाय भारतीय राजनीति को समझकर साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना होगा। तभी दलित साहित्य का सही और यथार्थ मूल्यांकन हो पाना संभव होगा। अन्ततः कहा जा सकता है कि दलित साहित्य परिवर्तनकामी साहित्य है, जो प्रत्येक व्यक्ति के गरिमामयी व्यक्तित्व और समाज में समता एवं बंधुता के लिए कृतसंकल्प है।

निष्कर्ष :–

भारत के आधुनिक समाज की यह विडम्बना ही कही जाएगी कि लोकतांत्रिक विचारों और मूल्यों तथा समानता और भाईचारे के प्रचार–प्रसार के बावजद जातिगत भेदभाव और छआछत जैसी बीमारियाँ हमारे भारतीय समाज का अपरिहार्य अंग बनी हुई है। दलित साहित्यकारों ने इसी छुआछुत को मिटाने के लिए और समाज में अपनी स्थिति की उपस्थिति दर्ज करने के लिए साहित्य का सृजन करना प्रारम्भ किया। डॉ० अम्बेडकर का यही सपना था कि अपनी आर्थिक तंगी के बावजूद शिक्षा पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। आज के दलित साहित्यकारों के प्रेरणास्त्रोत है। हिन्दी दलित साहित्स को समृद्धि के शिखर तक पहुँचाने में ओमप्रकाश बाल्मिकि का सर्वाधिक योगदान रहा है। इसी कारण बाल्मिकी जी हिन्दी दलित साहित्य में सर्वोच्च स्थान के अधिकारी बने है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि दलित साहित्य के लिए आधुनिक काल एक स्वर्ण युग है, जिससे दलितों की प्रधानता है। दलित समाज में परिवर्तन की कामना ही दलित साहित्य की अंतिम लक्ष्य है।

संदर्भ सूची :–

1. डॉ0 तुलसी राम, दलित साहित्य की अवधारणा (लेख), उद्धृत चिंतन की परंपरा और दलित साहित्यः सं0 डॉ0 बेचौन और डॉ0 चौबे, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, पृ0 59
2. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित चेतना और हिंदी कथा साहित्य (लेख), समकालीन जनमत, वर्षः 21, अंकः 4, अक्टूबर–दिसम्बर 2002, पटना, पृ0 50
3. डॉ० अंबेडकर वाङमय खंड 9. पृ0 21–22
4. उद्धृत साहित्य का सौंदर्यशास्त्रः ओम प्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली,2001, पृ0 13

5. शरण कुमार लिंबाले. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, अनु०—रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली. 2000, पृ0 38
6. उद्धृत—अनटचेबल्स! वायसेज ऑफ द दलित लिबरेशन मूवमेंट, नई दिल्ली, 1986, एडि0, बरबरा आर० जोशी, पृ079
7. उद्धृत साहित्य का सौंदर्यशास्त्र ओम प्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली,2001, पृ0 13
8. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित चेतना और हिंदी कथा साहित्य (लेख) समकालीन जनमत, पृ0 52—53
9. एलिनॉर जिलियट, 'फ्रॉम अनटचेबल टु दलित' में संकलित लेख—दलित..न्यु कल्चरल कान्टेक्सट फॉर ऐन ओल्ड मराठी वर्ड, मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1992. प0 267
10. डॉ चंद्र कुमार वरठे, दलित साहित्य आंदोलन, रचना प्रकाशन, जयपुर, 1997 पृ0 57